मालिनी
THE MALINI

DISCOURSES OF THE

Kashmir Shaiva Institute

GUPTA GANGA (Nishat)

SRINAGAR-KASHMIR

JUNE, 1970

ॐ नमः चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ॥

(शिवदृष्टि)

Spiritual writings mostly begin with salutations to God Generally speaking, these salutations are offered in the first person e. g., "I offer salutations to God, and pray that all obstacles may be removed so that I may attain my real nature." In Shaivism the manner of salutation is not only different but also unique in that here the one who offers homage to Shiva is not other than Shiva, nor are the obstacles (for the removal of which the prayer is offered) other than Shiva; and, even the media, through which homage is offered, are one with Shiva In the above *shloka*, therefore, Somananda substitutes the first person by third person saying, : "Let Shiva, who has taken the form of my individual being, offer salutation to His Universal Being-Shiva, through media, which are also Shiva, for the removal of obstacles which are, indeed, one with Shiva". The purpose of this salutation is too obvious to need explanation, namely to unite the individual being with the Universal Being.

—Sri Swami Lakshman Joo

From the Patron :-

I am happy that my devotees have succeeded in bringing out the first issue of the *Malini* despite difficulties. This opens an opportunity of enlarging the scope of Shaiva studies.

There is a real case for consideration of Kashmir Shaivism, the spirit of the present age being conducive to the appreciation of all such attempts as are made to know the truth of things. Kashmir Shaivism is basically an enquiry into the truth of human experience. It is a venture at discovering permanence in changefullness and universality in individuality. It, therefore, affirms the spirit of modern science. Studied in the right way, Kashmir Shaivism is bound to reveal its utility and charm to the modern mind.

Kashmir Shaivism is one of the systems of Indian Spiritual thought; there is a purposeful uniqueness in its outlook Here one is not required to strive for the attainment of universal consciousness as it is already there, but the difficulty is that there is lack of awareness because of which one feels its absence: once there is awareness there is no question of forgetting ones true nature.

I am sure that the Institute of Kashmir Shaivism at Guptaganga, which was established by Dr. Karan Singh Jee last year, is showing signs of becoming a rich centre of spiritual activities. The present publication also derives inspiration from the keen interest which Dr. Karan Singh Jee has been showing towards the development of Shaiva studies here

I thank the present contributors and pray that all lovers of spiritual thought and Sanskrit scholars may enrich the publication in future by their valuable contributions.

LAKSHMAN JOO

जाग्रत आदि अवस्थाओं का निरूपण
(तन्त्रों के आधार पर)

—शारिका देवी

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत—ये पांचों अवस्थायें एक ही प्रमाता के साथ संबन्ध रखती हैं, अर्थात् एक ही प्रमाता कभी जाग्रत अवस्था में, कभी स्वप्नावस्था में कभी सुषुप्ति-अवस्था में होता है और कभी योगाभ्यास का आश्रय लेकर तुर्य तथा तुर्यातीत अवस्थाओं का अनुभव करता है।

जिस अवस्था में अधिष्ठेय-रूपता ही विद्यमान रहे और अधिष्ठातृ-रूपता सब प्रकार से असंविदित रहे, अर्थात् जिस समय चैत्र-मैत्र, घट-पट आदि वस्तु-वर्ग प्रमाता को वेद्य के रूप में ही प्रतीत हो जाय, वही अवस्था मुख्य रूप से जाग्रदवस्था कही जाती है। दूसरी बात यह है कि चैत्र-मैत्र आदि जाग्रत संबन्धी जगत में जब वेद्य-रूपता की प्रधानता हो, वह इस जाग्रदवस्था की 'अबुद्ध' अवस्था कहलाती है। इस को 'जाग्रज्जाग्रदवस्था' भी कहते हैं, क्योंकि यह पूर्ण रूप में जाग्रदवस्था होती है।

जब इस जाग्रदवस्था में प्रमाण-रूपता की प्रधानता रहे, वह इस जाग्रदवस्था की 'बुद्ध' अवस्था कहलाती है। इस अवस्था को 'जाग्रत्स्वप्न-अवस्था' भी कहते हैं, क्योंकि इस जाग्रदवस्था में स्वप्नावस्था का सम्पर्क भी बना रहता है।

जब इस जाग्रदवस्था में प्रमातृ-रूपता की प्रधानता रहे, वह इस की 'प्रबुद्ध' नाम वाली अवस्था है। इस अवस्था को 'जाग्रत्सुषुप्ति' भी कहते हैं, क्योंकि इस जाग्रदवस्था में सुषुप्ति का आभास भी बना रहता है।

जब इस जाग्रदवस्था में प्रमिति-रूपता की प्रधानता रहे, अर्थात् जब मनुष्य को किसी वस्तु के विषय में पूर्ण ज्ञान होता है और उसे उस वस्तु को फिर से देखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, वह इस जाग्रदवस्था की 'सुप्रबुद्ध' अवस्था होती है। इस अवस्था को 'जाग्रत्तुर्यावस्था' भी कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में निर्विकल्पता के होने से तुर्यावस्था का भी समावेश होता है। यही बात श्री तन्त्रालोक में कही गई है—

> 'तत्र चैत्रे भासमाने यो देहांशः स कथ्यते ।
> अबुद्धो, यस्तु मानांशः स बुद्धो, मितिकारकः ।।
> प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च प्रमामात्रेति च क्रमः ।
> जाग्रज्जाग्रदबुद्धं तज्जाग्रत्स्वप्नस्तु बुद्धता ।।
> इत्यादि तुर्यातीतं तु सर्वगत्वात्पृथक्कृतः ।।

यहां यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस जाग्रदवस्था की लौकिक संज्ञा 'जाग्रत्' है, क्योंकि सांसारिक जन इसी प्रमेय-प्रधान जगत को सत्य मान कर अपने व्यवहार में सचेत रहते हैं। योगी इस अवस्था को 'पिण्डस्थ' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में उन की दृष्टि से चैत्र-मैत्र आदि समस्त वस्तु-वर्ग एक ही प्रमेय-सत्ता में ठहरा रहता है। ज्ञानी इस जाग्रदवस्था को 'सर्वतोभद्र' कहते हैं, क्योंकि उन की दृष्टि से प्रमेय-भूमि में ठहरा हुआ यह समस्त वस्तु-वर्ग शिव-सत्ता रूपी कल्याण से सर्वतः परिपूर्ण है। आचार्य अभिनवगुप्त जी तन्त्रालोक में कहते हैं—

> 'प्रसंख्यानैकरूढानां ज्ञानिनां तु तदुच्यते ।
> सर्वतोभद्रमापूर्णं सर्वतो वेद्यसत्तया ।।
> सर्वसत्तासमापूर्णं विश्वं पश्येद्यतो यतः ।
> ज्ञानी ततस्ततः संवित्तत्त्वमस्य प्रकाशते ।।'

भाव यह है कि ज्ञानी को यह जगत परमेश्वर का स्वरूप ही दिखाई देता है और इस वेद्य-विलास-दशा में ठहर कर ही उसे सभी बाह्य तथा भीतरी अवस्थाओं में परिपूर्ण संवित्-स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है।

अब स्वप्नावस्था को लीजिए। जिस अवस्था में घट-पट आदि वस्तु-

वर्ग प्रमाण-दशा में ठहर कर अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरण में ही स्थित होकर दिखाई देता है, वही स्वप्नावस्था कहलाती है। स्वप्नावस्था का मुख्य स्थान विकल्प-मार्ग है और इस का मुख्य लक्षण अबाह्यता है। इस लिए विकल्प-मार्ग तथा स्वप्न-मार्ग दोनों वास्तव में एक ही हैं, क्योंकि इन दोनों में अबाह्यता समान रूप से ही पाई जाती है। कहा भी है—

'वैकल्पिकपथारूढवेद्यसाम्यावभासनात् ।
लोकरूढोऽप्यसौ स्वप्नः साम्यं चाबाह्यरूपता ॥'

इस स्वप्नावस्था की स्थिति मनोराज्य में, स्वप्न में, संकल्पों में, स्मृति में तथा उन्माद आदि अवस्थाओं में पाई जाती है। जाग्रदवस्था की भांति इस स्वप्नावस्था में भी चार अवस्थायें होती हैं। जब उपरोक्त मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में वह स्वप्न-जगत स्पष्ट रूप से तथा स्थिर रूप से दिखाई देने लगता है, तो वह अवस्था स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था है, उस अवस्था का नाम 'स्वप्नजाग्रत्' है। इस अवस्था को मालिनीविजय-तन्त्र में 'गतागत' नाम दिया है, क्योंकि इस अवस्था में प्राणापान की गति ही प्रधान रहती है, जिस के फल-स्वरूप स्वप्न-जगत क्रम से स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। जब इन मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में समस्त वेद्य-वर्ग अस्पष्ट रूप से दीख पड़ता है, अर्थात् जब स्वप्न-जगत् क्रम से प्रतीत नहीं होता, वह स्वप्नावस्था में स्वप्न है। अतः इस अवस्था को 'स्वप्नस्वप्न' कहते हैं। मालिनीविजय-तंत्र में तथा तन्त्रालोक में इस अवस्था को 'सुविक्षिप्त' नाम से कहा गया है, क्योंकि इस अवस्था में स्वप्न-दृष्टा को स्वप्न-जगत् किसी नियमित क्रम से दिखाई नहीं देता। जब मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में इस दृश्य-वर्ग के साथ साथ स्वप्न-द्रष्टा को अपना अस्तित्व भी स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है, अर्थात् जब स्वप्न देखते समय स्वप्न-द्रष्टा को पूर्वापर अनुसन्धान रहता है, वह अवस्था 'स्वप्न-सुषुप्ति' कहलाती है। इस अवस्था को ज्ञान की दृष्टि से तन्त्रों में 'संगत' नाम से कहा है, क्योंकि इस अवस्था में स्वप्न-द्रष्टा को स्वप्न-दृश्य पूर्वापर-संगत ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब इस सारे दृश्य-वर्ग के स्वप्नावस्था में दिखाई देने पर भी स्वप्न-द्रष्टा की प्रमिति स्पष्ट बनी रहती है, अर्थात् मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में भी जब स्वप्न-दृष्टा

जब इस जाग्रदवस्था में प्रमिति-रूपता की प्रधानता रहे, अर्थात् जब मनुष्य को किसी वस्तु के विषय में पूर्ण ज्ञान होता है और उसे उस वस्तु को फिर से देखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, वह इस जाग्रदवस्था की 'सुप्रबुद्ध' अवस्था होती है। इस अवस्था को 'जाग्रत्तुर्यावस्था' भी कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में निर्विकल्पता के होने से तुर्यावस्था का भी समावेश होता है। यही बात श्री तन्त्रालोक में कही गई है—

'तत्र चैत्रे मासमाने यो देहांशः स कथ्यते।
अबुद्धो, यस्तु मानांशः स बुद्धो, मितिकारकः॥
प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च प्रमामात्रेति च क्रमः।
जाग्रज्जाग्रदबुद्धं तज्जाग्रत्स्वप्नस्तु बुद्धता॥
इत्यादि तुर्यातीतं तु सर्वगत्वात्पृथक्कृतः॥

यहां यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस जाग्रदवस्था की लौकिक संज्ञा 'जाग्रत्' है, क्योंकि सांसारिक जन इसी प्रमेय-प्रधान जगत को सत्य मान कर अपने व्यवहार में सचेत रहते हैं। योगी इस अवस्था को 'पिण्डस्थ' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में उन की दृष्टि से चैत्र-मैत्र आदि समस्त वस्तु-वर्ग एक ही प्रमेय-सत्ता में ठहरा रहता है। ज्ञानी इस जाग्रदवस्था को 'सर्वतोभद्र' कहते हैं, क्योंकि उन की दृष्टि से प्रमेय-भूमि में ठहरा हुआ यह समस्त वस्तु-वर्ग शिव-सत्ता रूपी कल्याण से सर्वतः परिपूर्ण है। आचार्य अभिनवगुप्त जी तन्त्रालोक में कहते हैं—

'प्रसंख्यानैकरूढानां ज्ञानिनां तु तदुच्यते।
सर्वतोभद्रमापूर्णं सर्वतो वेद्यसत्तया॥
सर्वसत्तासमापूर्णं विश्वं पश्येद्यतो यतः।
ज्ञानी ततस्ततः संवित्तत्त्वमस्य प्रकाशते॥'

भाव यह है कि ज्ञानी को यह जगत परमेश्वर का स्वरूप ही दिखाई देता है और इस वेद्य-विलास-दशा में ठहर कर ही उसे सभी बाह्य तथा भीतरी अवस्थाओं में परिपूर्ण संवित्-स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है।

अब स्वप्नावस्था को लीजिए। जिस अवस्था में घट-पट आदि वस्तु-

वर्ग प्रमाण-दशा में ठहर कर अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरण में ही स्थित होकर दिखाई देता है, वही स्वप्नावस्था कहलाती है। स्वप्नावस्था का मुख्य स्थान विकल्प-मार्ग है और इस का मुख्य लक्षण अबाह्यता है। इस लिए विकल्प-मार्ग तथा स्वप्न-मार्ग दोनों वास्तव में एक ही हैं, क्योंकि इन दोनों में अबाह्यता समान रूप से ही पाई जाती है। कहा भी है—

'वैकल्पिकपथारूढवेद्यसाम्यावभासनात् ।
लोकरूढोऽप्यसौ स्वप्नः साम्यं चाबाह्यरूपता ॥'

इस स्वप्नावस्था की स्थिति मनोराज्य में, स्वप्न में, संकल्पों में, स्मृति में तथा उन्माद आदि अवस्थाओं में पाई जाती है। जाग्रदवस्था की भांति इस स्वप्नावस्था में भी चार अवस्थायें होती हैं। जब उपरोक्त मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में वह स्वप्न-जगत स्पष्ट रूप से तथा स्थिर रूप से दिखाई देने लगता है, तो वह अवस्था स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था है, उस अवस्था का नाम 'स्वप्नजाग्रत्' है। इस अवस्था को मालिनीविजय-तन्त्र में 'गतागत' नाम दिया है, क्योंकि इस अवस्था में प्राणापान की गति ही प्रधान रहती है, जिस के फल-स्वरूप स्वप्न-जगत क्रम से स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। जब इन मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में समस्त वेद्य-वर्ग अस्पष्ट रूप से दीख पड़ता है, अर्थात् जब स्वप्न-जगत् क्रम से प्रतीत नहीं होता, वह स्वप्नावस्था में स्वप्न है। अतः इस अवस्था को 'स्वप्नस्वप्न' कहते हैं। मालिनीविजय-तंत्र में तथा तन्त्रालोक में इस अवस्था को 'सुविक्षिप्त' नाम से कहा गया है, क्योंकि इस अवस्था में स्वप्न-दृष्टा को स्वप्न-जगत् किसी नियमित क्रम से दिखाई नहीं देता। जब मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में इस दृश्य-वर्ग के साथ साथ स्वप्न-द्रष्टा को अपना अस्तित्व भी स्पष्ट रूप में प्रतीत हीता है, अर्थात् जब स्वप्न देखते समय स्वप्न-द्रष्टा को पूर्वापर अनुसन्धान रहता है, वह अवस्था 'स्वप्न-सुषुप्ति' कहलाती है। इस अवस्था को ज्ञान की दृष्टि से तन्त्रों में 'संगत' नाम से कहा है, क्योंकि इस अवस्था में स्वप्न-द्रष्टा को स्वप्न-दृश्य पूर्वापर-संगत ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब इस सारे दृश्य-वर्ग के स्वप्नावस्था में दिखाई देने पर भी स्वप्न-द्रष्टा की प्रमिति स्पष्ट बनी रहती है, अर्थात् मनोराज्य आदि स्वप्नावस्थाओं में भी जब स्वप्न-दृष्टा

यह समझने लगता है कि मैं स्वप्न देखता हूं और इसी आशय से उस के मस्तिष्क पर इस स्वप्न जगत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, उस अवस्था को तन्त्र-वेत्ता आचार्यों ने 'स्वप्नतुर्य' नाम दिया है। इस अवस्था को 'सुसमाहित' भी कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में स्वप्न-द्रष्टा सुसमाहित बना रहता है। इसी आशय से मालिनीविजय तन्त्र में कहा है—

'............पदस्थं च चतुर्विधम्।
गतागतं सुविक्षिप्तं संगतं सुसमाहितम्।'

इस स्वप्नावस्था के भी, लौकिक, योग संबन्धी तथा ज्ञान संबन्धी नाम कहे गये हैं। इस अवस्था का नाम सांसारिक दृष्टि से स्वप्नावस्था है, क्योंकि इस अवस्था में बाह्य जगत दिखाई न देने पर भी अपने ही विकल्प-मार्ग में ठहरा रहता है। योगियों की दृष्टि से इस अवस्था को 'पदस्थ' कहते हैं, क्योंकि इस दशा में योगि-जन प्राणापान का उत्थान करके स्वरूप-पद को प्राप्त करते हैं और उन की दृष्टि से स्वप्नावस्था स्वात्म-पदवी के समीप ही होती है। ज्ञानियों ने इस अवस्था को 'व्याप्ति' नाम से कहा है, क्योंकि इस दशा में ज्ञानी स्वप्न-जगत के सभी वैकल्पिक हान-आदान रूपी व्यवहार में अपनी सत्ता की ही व्याप्ति का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करता है।

अब सुषुप्ति अवस्था पर विचार कीजिए। उपरोक्त चैत्र-मैत्र आदि वस्तु-वर्ग जिस अवस्था में प्रमाता के स्वरूप में छिपा रहता है, उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्था का लौकिक नाम सुषुप्ति है, क्योंकि इस में समस्त वस्तु-वर्ग संस्कार के रूप में ही ठहरा रहता है, बाह्यता में नहीं। योगियों की दृष्टि से इस अवस्था को 'रूपस्थ' कहते है, क्योंकि उन को इस दशा में समस्त वस्तु-वर्ग अपने ही रूप में ठहरा हुआ प्रतीत होता है। ज्ञानियों की दृष्टि से इस अवस्था का नाम 'महाव्याप्ति' है, क्योंकि उन को इस अवस्था में भेद-प्रथा का तनिक भी भान नहीं रहता, प्रत्युत वह इस दशा में पहुँच कर उत्कृष्ट स्वरूप-व्याप्ति प्राप्त करते हैं। श्रीपूर्व-शास्त्र में कहा है—

'रूपस्थं च महाव्याप्तिः सुषुप्तस्यापि तद्द्वयम्।'

जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था की भांति इस सुषुप्ति अवस्था में भी चार अवस्थायें होती हैं। सुषुप्ति अवस्था की जो जाग्रदवस्था है उस को 'उदित' कहा गया है, क्योंकि इस दशा में सारा वस्तु-वर्ग संस्कार के रूप में उदयशील रहता है।

इस अवस्था की जो स्वप्नावस्था, अर्थात् 'सुषुप्ति-स्वप्न' अवस्था है, उसे तन्त्रों में 'विपुल' कहते हैं, क्योंकि इस दशा में संस्कार के रूप में ठहरा हुआ वस्तु-वर्ग उसी संस्कार की पुष्टि करता है। इस अवस्था की जो सुषुप्ति अर्थात् 'सुषुप्ति-सुषुप्ति' है, उसे तन्त्रों में 'शान्त' नाम से कहा गया है, क्योंकि इस अवस्था में सभी संस्कार एकबारगी शान्त हो जाते हैं। इस दशा की जो तुर्यावस्था अर्थात् 'सुषुप्ति-तुर्य' दशा है, वह तन्त्रों में 'सुप्रसन्न' नाम से कही गई है, क्योंकि इस दशा में योगी पूर्णाहन्ता में प्रवेश करके स्वात्मानन्द में लीन हो जाता है। इसी आशय से मालिनीविजय-तन्त्र में कहा है—

'चतुर्धा रूपसंज्ञं तु ज्ञातव्यं योगचिन्तकैः ।
उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमथापरम् ॥'

यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि मुख्य रूप में जाग्रदवस्था प्रमेयभूमि है, स्वप्नावस्था प्रमाण-दशा है और सुषुप्ति अवस्था प्रमातृ-भूमि है। कहा भी है—

'मेयभूमिरियं मुख्या जाग्रदाख्यान्यदन्तरा ।'

तथा 'मानभूमिरियं मुख्या स्वप्नो ह्यामर्शनात्मकः ।'

तथा 'मुख्या मातृदशा सेयं सुषुप्ताख्या निगद्यते ।'

तुर्यावस्था का निर्णय करने से पहले प्रमा (प्रमिति) तथा प्रमाता का स्वरूप-भेद दिखलाना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। जिस अवस्था में प्रमाता वेद्य की उपाधि से उपरक्त बना रहता है, वह अवस्था प्रमाता की अवस्था है। इस के विपरीत जिस अवस्था में प्रमाता शास्त्रज्ञ की भान्ति वेद्य की उपाधि से अनुपरक्त रहता है, उस अवस्था को प्रमिति कहते हैं। अतः प्रमाता की दशा से भी ऊपर ठहरी हुई जो प्रमिति अवस्था है और जिस अवस्था में समस्त वस्तु-वर्ग अपने संस्कारों को उसी प्रमिति

अवस्था में लीन करता है, उस दशा को तुर्यावस्था कहते हैं। इस अवस्था को 'शक्ति-समावेश' भी कहते हैं, क्योंकि इस दशा में योगी चिद्-आनन्द आदि शिव-शक्तियों के साथ एकीभाव को प्राप्त करता है। इस दशा के भी सांसारिक दृष्टि से, योग-दृष्टि से तथा ज्ञान-दृष्टि से तीन नाम हैं। इस की लौकिक संज्ञा 'तुर्यावस्था' है, क्योंकि लोक-दृष्टि से यह अवस्था देखी नहीं जाती। अतः इसे केवल तुर्य अर्थात् चौथी अवस्था कहते हैं। योगियों ने इस अवस्था का नाम 'रूपातीत' रखा है, क्योंकि इस में प्रमाता तथा प्रमेय, इन दोनों के स्वरूप अपने अपने संस्कारों को ले कर ही मिट जाते हैं। ज्ञानियों की दृष्टि से इस दशा का नाम 'प्रचय' है, क्योंकि इस अवस्था में ज्ञानी समस्त वस्तु-समूह को तुर्य-आनन्द-रस से परिपूर्ण देखता है। कहा भी है—

'प्रचयो रूपातीतं च सम्यक्तुर्यमुदाहृतम्।'

चूंकि तुर्य-अवस्था में दूसरी तुर्य-अवस्था अनुभव में नहीं आती, इस लिए इस तुर्यावस्था में पूर्वोक्त जाग्रत् आदि अवस्थाओं की भांति चार अवस्थायें नहीं होतीं, किन्तु तुर्य-जाग्रत्, तुर्य-स्वप्न और तुर्य सुषुप्ति, केवल ये ही तीन अवस्थायें होती हैं। तुर्य-जाग्रत् का नाम तन्त्रों में 'मनोन्मन' रखा गया है, क्योंकि इस दशा में मन की मनन-शीलता पूर्ण रूप में मिट जाती है और वह उन्मना-भाव को प्राप्त करता है। 'तुर्य-स्वप्न' का नाम 'अनन्त' है, क्योंकि इस अवस्था में योगी परिमितता को छोड़ कर अनन्तता में प्रवेश करता है। तुर्य-सुषुप्ति को 'सर्वार्थ' नाम से कहा गया है, क्योंकि इस अवस्था में सब कुछ शक्ति के रूप में ही ठहरा रहता है। इसी आशय से श्रीतन्त्रालोक में कहा है—

'जाग्रदाद्यास्तु संभाव्यास्तिस्रोऽस्याः प्राग्दशा यतः।
त्रितयानुग्रहात्सेयं तैनोक्ता त्रिकशासने ॥
मनोन्मनमनन्तं च सर्वार्थमिति भेदतः ॥'

जो अवस्था पूर्ण तथा अनवच्छिन्न आनन्द से भरी रहती है तथा जहां योग-अभ्यास करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता, वही अवस्था 'तुर्यातीत अवस्था' कही जाती है और उसी को परम-धाम भी कहते है। चूंकि इस अवस्था में सब ओर से केवल ज्ञान (प्रसंख्यान) ही अनुभव

में आता है, अतः इस अवस्था का नाम केवल ज्ञानियों की दृष्टि से ही रखा गया है। ज्ञानियों ने इस अवस्था का नाम 'महाप्रचय' रखा है, क्योंकि इस अवस्था में विश्वोत्तीर्णता में विश्वमयता और विश्वमयता में विश्वोत्तीर्णता का अनुभव होता है। मालिनीविजय-तन्त्र में कहा है—

'महाप्रचयमिच्छन्ति तुर्यातीतं विचक्षणाः।'

इस अवस्था में एक बार प्रवेश करके ज्ञानी को फिर से किसी उपासना का आश्रय नहीं लेना पड़ता, क्योंकि यह अवस्था फिर सदा के लिए बनी ही रहती है। इसीलिए ज्ञानी इस अवस्था को 'सततोद्यत' भी कहते हैं।

प्रतिबिम्बवाद का रहस्य

—प्रभा देवी

त्रिकमार्ग के अनुयायि रसिक पाठक-गण इस कथन से पूर्णतया अभिज्ञ होंगे कि श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित तंत्रालोक-ग्रन्थ त्रिकसिद्धान्त का सर्वोपरि प्रक्रिया-ग्रन्थ माना गया है। इस पुस्तक की रचनात्मक शैली तथा भावों को अभिव्यक्त करने का ढंग एकदम अपनापन लिये है। इस का आद्योपान्त अवलोकन करने पर आचार्य अभिनवगुप्त जी की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

तन्त्रालोक, मालिनी-विजय-तंत्र के आधार पर लिखा गया है। यह सैंतीस आह्निकों में विभाजित है। कहते हैं श्रीमान् अभिनवगुप्त जी प्रति दिन एक एक आह्निक का व्याख्यान करते थे जिन्हें शिष्य-जनों ने लिख कर पुस्तक का रूप दिया। अतः प्रतिदिन के व्याख्यानों का नाम आह्निक रखा गया।

इस पुस्तक के प्रथमाह्निक को यदि सम्पूर्ण ग्रन्थ की भूमिका अथवा आधार-शिला मानें तो अत्युक्ति न होगी। शेष पैंतीस आह्निकों में अनुपाय, शाम्भव, शाक्त और आणवोपाय इन चार उपायों का विस्तृत रूप से निर्णय किया गया है। द्वितीय आह्निक में अनुपाय का वर्णन अति सुन्दर ढंग से किया गया है। तृतीय आह्निक में शाम्भवोपाय का विशद् रूप से व्याख्यान किया गया है। चतुर्थ आह्निक में शाक्तोपाय का विवेचन हुआ है। पांचवें आह्निक से पैंतीस आह्निकों तक आणवोपाय का विस्तार-पूर्वक निर्णय है। छैतीसवें आह्निक में अभिनवगुप्त जी ने अपनी वंश-परम्परा का परिचय दिया है।

अस्तु; यह तो रहा प्रसंगवश कथन। तृतीय आह्निक शाम्भवोपाय के अन्तर्गत प्रथम विश्वचित्प्रतिबिम्ब का उल्लेख किया गया है जो प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

वास्तव में चित्प्रतिबिम्बवाद का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड की सृष्टि, स्थिति, संहार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध जो कि संपूर्ण विश्व के प्रतीक हैं इन आडम्बरों की उथल-पुथल स्वात्मदेव के चित्-संवित्-दर्पण में ही होती है। यह संपूर्ण षडध्वा उसी चिद्रूपी संविदाकाश में प्रतिभासित हुआ है तथा उस के बिना इस सभी दृश्य-वर्ग की अपनी तनिक़ भी सत्ता नहीं है। हमारे आचार्यवर्यों ने इस चित्-प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त पार्थिव दर्पण के साथ दिया है। जिस भांति दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तुओं का न तो दर्पण-देश से भिन्न अपना निज देश है, न अपना परिमाण है, न अपने समय की अवधि है और न ही दर्पण-देश के बिना अपनी सत्ता है ठीक इसी भांति संवित्-दर्पण में ये सभी दृश्य-वर्ग अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध प्रतिबिम्ब रूप से ही ठहरे हुए हैं।

अब प्रश्न उठता है कि निर्मलता का क्या लक्षण है जिस के फल-स्वरूप दर्पण, बाह्य-पदार्थों के प्रतिबिम्ब को दिखाने का सामर्थ्य रखता है। इस निर्मलता का निर्णय करते हुए आचार्यवर्य कहते हैं कि अपने स्वरूप में अभिन्न रूप से ठहर कर, अन्य जागतिक पदार्थों को अपने में दर्शाने का सामर्थ्य रखते हुए भी उन पदार्थों से अपने स्वरूप का आच्छादित न होना ही निर्मलता कहलाती है। यद्यपि मुख्य नैर्मल्य केवल-मात्र संविन्नाथ में ही विद्यमान् है तथापि उन्हीं की अप्रतिहता स्वातन्त्र्य-शक्ति से अमुख्य निर्मलता दर्पण, नेत्र, जल आदि पदार्थों में अवस्थित है जिस के फल-स्वरूप वह पदार्थ प्रतिबिम्ब धारण करने की क्षमता रखते हैं। मुख्य निर्मलता तथा अमुख्य निर्मलता का पारस्परिक अन्तर इतना है कि अत्यन्त निर्मल होने के कारण संवित्नाथ दृष्टि का विषय नहीं बनते और इस के उलट दर्पण आदि पदार्थों में अमुख्य नैर्मल्य होने के कारण वह वेद्य माने जाते हैं। इस के अतिरिक्त चैतन्य रूप संवित् दर्पण में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पांचों विषयों का प्रतिबिम्ब एकबारगी लगा है जिन के प्रतिबिम्ब-स्थान कर्ण, त्वचा, नेत्र, दन्त तथा नासिका माने गये हैं। इस के विपरीत दर्पण आदि में रूप परमाणुओं के होने से केवल रूप का ही प्रतिबिम्ब लगता है। इसी भांति शब्द का प्रतिबिम्ब आकाश में लगता है जिसे प्रतिश्रुत्का कहते हैं।

प्रतिबिम्बवाद का रहस्य

—प्रभा देवी

त्रिकमार्ग के अनुयायि रसिक पाठक-गण इस कथन से पूर्णतया अभिज्ञ होंगे कि श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित तंत्रालोक-ग्रन्थ त्रिकसिद्धान्त का सर्वोपरि प्रक्रिया-ग्रन्थ माना गया है। इस पुस्तक की रचनात्मक शैली तथा भावों को अभिव्यक्त करने का ढंग एकदम अपनापन लिये है। इस का आद्योपान्त अवलोकन करने पर आचार्य अभिनवगुप्त जी की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

तन्त्रालोक, मालिनी-विजय-तंत्र के आधार पर लिखा गया है। यह सैंतीस आह्निकों में विभाजित है। कहते हैं श्रीमान् अभिनवगुप्त जी प्रति दिन एक एक आह्निक का व्याख्यान करते थे जिन्हें शिष्य-जनों ने लिख कर पुस्तक का रूप दिया। अतः प्रतिदिन के व्याख्यानों का नाम आह्निक रखा गया।

इस पुस्तक के प्रथमाह्निक को यदि सम्पूर्ण ग्रन्थ की भूमिका अथवा आधार-शिला मानें तो अत्युक्ति न होगी। शेष पैंतीस आह्निकों में अनुपाय, शाम्भव, शाक्त और आणवोपाय इन चार उपायों का विस्तृत रूप से निर्णय किया गया है। द्वितीय आह्निक में अनुपाय का वर्णन अति सुन्दर ढंग से किया गया है। तृतीय आह्निक में शाम्भवोपाय का विशद् रूप से व्याख्यान किया गया है। चतुर्थ आह्निक में शाक्तोपाय का विवेचन हुआ है। पांचवें आह्निक से पैंतीस आह्निकों तक आणवोपाय का विस्तार-पूर्वक निर्णय है। छैतीसवें आह्निक में अभिनवगुप्त जी ने अपनी वंश-परम्परा का परिचय दिया है।

अस्तु; यह तो रहा प्रसंगवश कथन। तृतीय आह्निक शाम्भवोपाय के अन्तर्गत प्रथम विश्वचित्प्रतिबिम्ब का उल्लेख किया गया है जो प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

वास्तव में चित्प्रतिबिम्बवाद का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड की सृष्टि, स्थिति, संहार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध जो कि संपूर्ण विश्व के प्रतीक हैं इन आडम्बरों की उथल-पुथल स्वात्मदेव के चित्-संवित्-दर्पण में ही होती है। यह संपूर्ण षडध्वा उसी चिद्रूपी संविदाकाश में प्रतिभासित हुआ है तथा उस के बिना इस सभी दृश्य-वर्ग की अपनी तनिक भी सत्ता नहीं है। हमारे आचार्यवर्यों ने इस चित्-प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त पार्थिव दर्पण के साथ दिया है। जिस भांति दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तुओं का न तो दर्पण-देश से भिन्न अपना निज देश है, न अपना परिमाण है, न अपने समय की अवधि है और न ही दर्पण-देश के बिना अपनी सत्ता है ठीक इसी भांति संवित्-दर्पण में ये सभी दृश्य-वर्ग अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध प्रतिबिम्ब रूप से ही ठहरे हुए हैं।

अब प्रश्न उठता है कि निर्मलता का क्या लक्षण है जिस के फल-स्वरूप दर्पण, बाह्य-पदार्थों के प्रतिबिम्ब को दिखाने का सामर्थ्य रखता है। इस निर्मलता का निर्णय करते हुए आचार्यवर्य कहते हैं कि अपने स्वरूप में अभिन्न रूप से ठहर कर, अन्य जागतिक पदार्थों को अपने में दर्शाने का सामर्थ्य रखते हुए भी उन पदार्थों से अपने स्वरूप का आच्छादित न होना ही निर्मलता कहलाती है। यद्यपि मुख्य नैर्मल्य केवल-मात्र संविन्नाथ में ही विद्यमान् है तथापि उन्हीं की अप्रतिहता स्वातन्त्र्य-शक्ति से अमुख्य निर्मलता दर्पण, नेत्र, जल आदि पदार्थों में अवस्थित है जिस के फल-स्वरूप वह पदार्थ प्रतिबिम्ब धारण करने की क्षमता रखते हैं। मुख्य निर्मलता तथा अमुख्य निर्मलता का पारस्परिक अन्तर इतना है कि अत्यन्त निर्मल होने के कारण संवित्नाथ दृष्टि का विषय नहीं बनते और इस के उलट दर्पण आदि पदार्थों में अमुख्य नैर्मल्य होने के कारण वह वेद्य माने जाते हैं। इस के अतिरिक्त चैतन्य रूप संवित् दर्पण में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पांचों विषयों का प्रतिबिम्ब एकबारगी लगा है जिन के प्रतिबिम्ब-स्थान कर्ण, त्वचा, नेत्र, दन्त तथा नासिका माने गये हैं। इस के विपरीत दर्पण आदि में रूप परमाणुओं के होने से केवल रूप का ही प्रतिबिम्ब लगता है। इसी भांति शब्द का प्रतिबिम्ब आकाश में लगता है जिसे प्रतिश्रुत्का कहते हैं।

जैसे बाह्य दर्पणान्तर्गत प्रतिबिम्ब बाह्य-बिम्ब की उपाधि से ही अपना अस्तित्व दिखाता है, वैसी बात चित्प्रतिबिम्बवाद में नहीं है। यहां संवित् के बिना कोई अन्य पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होता। संवित् ही स्वेच्छा से अपनी ही भित्ति पर स्वात्माभिन्न विश्व को प्रकट करती है। दर्पण आदि पदार्थों के प्रतिबिम्ब में बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब लगाना असंभव है किंतु संवित्-दर्पण में बिम्ब के स्थान में स्वातन्त्र्य-शक्ति ही कारण मानी गई है। इस के साथ ही आचार्य महोदय कहते हैं कि इस षडध्वा में प्रतिबिम्ब के ही लक्षण घटते हैं बिम्ब के नहीं। दखिये बिम्बाधार दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थों से भिन्न, बिम्ब अपनी सत्ता रखता है किन्तु यह विश्व-वर्ग संवित् से भिन्न ठहर ही नहीं सकता अतः इस में ठीक प्रतिबिंब के ही लक्षण घटते हैं।

अस्तु, यह तो रहा प्रतिबिम्ब का स्वरूप। अब मुमुक्षु को किस भांति इस संपूर्ण षडध्वा को अपने ही संवित्-दर्पण में देखना चाहिये, इस की सिद्धि के लिए परामर्शोदय क्रम तथा मन्त्राद्यभिन्नरूपता दो प्रमेयों का निरूपण किया गया है। यदि साधक उन उपायों के द्वारा इस सम्पूर्ण वेद्य-वर्ग को अपनी ही संवित्ति में प्रतिबिम्ब-रूप देखे तो वह विश्वेश्वर-पद को प्राप्त करता है। यही प्रतिबिम्बवाद के कहने का मूल रहस्य है, ऐसा आचार्य अभिनवगुप्त जी कहते हैं। वास्तव में यह वेद्य-वर्ग तभी संवित्-दर्पण में दीखने लगेगा जब साधक अहंपरामर्श का पारखी तथा मातृका-चक्र के ज्ञान में निष्णात बनेगा। ऐसा तभी होगा जब गुरु-कृपा होगी।

[शेष द्वितीय अंक में]

कश्मीर में
त्रिक-शासन का आविर्भाव

—जानकीनाथ कौल

उपलब्ध शैव-ग्रन्थों के अनुसार त्रिक-शासन को शैव-शासन या शैवागम भी कहते हैं। यह शासन उतना ही प्राचीन माना गया है जितना वेद। सम्भवतः वेद-विस्तार के साथ ही शैवागम का भी आविर्भाव हुआ हो। अतः जैसे वेद अनादि माने जाते हैं वैसे ही शैवागम को भी अनादि मानना युक्तियुक्त दीख पड़ता है।

कश्मीर के त्रिक-शासन के अनुयायियों की भी यही धारणा है। उनके विश्वास तथा मान्यता के अनुसार शैवागम का इतिहास तन्त्रालोक तथा इसकी टीका के आधार पर इस प्रकार है :—

प्रथमतः परमशिव की परसंवित्तिरूपा परावाणी में समस्त शास्त्र परबोधरूपता से विकसित हुआ ही ठहरा रहता है, फिर पश्यन्ती दशा में अहंपरामर्शरूपता से ही उदय करता है—इस पश्यन्ती दशा में भी वाच्यवाचकरूपता का भेद प्रतीत नहीं होता। तत्पश्चात् वही शास्त्र मध्यमा वाणी में अवतरित होकर अपने में ही वाच्यवाचक-भाव को प्रकट करके उदय करता है और अन्त में वही शास्त्र वैखरी-दशा में आकर तथा वाच्यवाचकभाव को प्रकट करके बाहर जगत में अवतरित हो जाता है और स्फुटरूपता को प्राप्त होता है।

शैवागम के अनुसार मुख्य रूप से यह शास्त्र पांच प्रवाहों से प्रसारित होता है। यही पांच प्रवाह शिव की पांच शक्तियों का विकास है। ये पांच शक्तियां चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाती हैं। इन को क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर वक्त्र कहते हैं। इस प्रकार अगाध विश्वव्यापी शिव के पञ्चमुखों से प्रवाहित

हुई शैव-शास्त्र रूप सरिताएं मूलतः बयानवे धाराओं में बह निकलीं। यह धाराएँ भिन्न-भिन्न प्रवृति वाले जीवों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार ही बहीं। ये ही अभेदरूप भैरव-शास्त्र, भेदाभेदरूप रुद्रशास्त्र और भेदरूप शिव-शास्त्र के रूप में प्रकट हुए।

इस प्रकार यह सब शास्त्र तीन श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं—

१. अद्वैत या अभेद—जगद्रूप नानाता में एकता के अनुभव का प्रत्यभिज्ञान। इन शास्त्रों को भैरव-शास्त्र कहते हैं।

२. भेद—नानाता में ही इस सिद्धान्त के सार का अवलोकन होना। इन शास्त्रों को शिव-शास्त्र कहते हैं।

३. भेदाभेद—एकता और अनेकता के दोनों दृष्टि कोणों के अनुसार सिद्धान्तों का कथन। इन शास्त्रों को रुद्रशास्त्र कहते हैं।

कलियुग के पूर्व ऋषि-मुनि इन शैव-सिद्धान्तों का प्रवचन तथा प्रचार मौखिक रूप में ही किया करते थे। अतः यह दर्शन शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा कथन-श्रवण से ही संसार के जीवों का उद्धार करता रहा। परन्तु कलियुग का आविर्भाव होते ही वे ऋषि-मुनि गुफाओं और गिरि-कन्दराओं में छिप गए; सम्भवतः इसलिए कि वे अपने शान्त वातावरण में ही रहा करते थे और कलियुग में होने वाले अन्यायों तथा विक्षेपों से दूर रहकर ही परम-तत्त्व के अभ्यास में रहना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि कलियुगीय वातावरण के बढ़ने के साथ साथ कालान्तर में इस क्रम का लोप हो गया।

ऐसी दशा में भगवान शिव पीडित जनता पर दया करते हुए कैलाश पर्वत पर श्री कण्ठ के रूप में प्रकट हुए। और ऋषि दुर्वासा को शैव-शास्त्रों का उपदेश किया। श्रीकण्ठनाथ ने दुर्वासा को पृथ्वीतल पर जीवों का पुनरुत्थान करने के लिए इसी त्रिक-शासन का फिर से प्रचार करने को कहा। इस प्रकार त्रिक-शासन की प्रणाली फिर से आगे बढने लगी।

ऋषि दुर्वासा त्रिक-शासन के विज्ञाता थे। उन्होंने प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अपनी अलौकिक मानसिक शक्ति से तीन मानसिक पुत्रों को जन्म दिया। उनके नाम त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ हुए। इन तीनों मानसिक पुत्रों को क्रमशः अभेद, भेद और भेदाभेद शाखाओं में प्रचार द्वारा जनता का आध्यात्मिक जीवन-स्तर उन्नत करने का आदेश मिला। त्र्यम्बक ने स्त्री-समुदाय के शिक्षार्थ अपनी ध्यान-शक्ति से एक कन्या को उत्पन्न किया। इससे अर्ध-त्र्यम्बक शाखा आरम्भ हुई। अतः साड़े तीन मठिकाओं में त्रिक-दर्शन जगत् में फिर से आरम्भ हुआ और इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया। जैसे तन्त्रालोक की टीका में कहा है—

> वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
> ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥

यह परम्परा चौदह पीडियों तक चलती रही। इन शिष्यों को सिद्ध कहा जाता था। आमर्दक की भेद शाखा तथा श्रीनाथ की भेदाभेद शाखा के बारे में कोई परिचय प्राप्त नहीं होता है। सम्भवतः यह दोनों शाखाएँ कुछ अनावश्यक प्रतीत हुई हों जिससे इनका आगे प्रचार होना रुक गया हो।

पन्द्रहवीं पीडी में मानसिक पुत्रों द्वारा गुरु-शिष्य क्रम भंग हुआ। इस पीडी के प्रतिनिधि, जिसके नाम का पता नहीं चलता है, मानसिक पुत्र को उत्पन्न करने में असफल रहा। उसने एक ब्राह्मण की कन्या से विवाह किया जिससे एक पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम संगमादित्य था। यह पहला पुत्र था जिसका जन्म इस शाखा में माता के गर्भ से हुआ। संगमादित्य को पिता ने उपदेश किया। आगे पिता-पुत्र के रूप से ही गुरु-शिष्य क्रम जारी रहा।

संगमादित्य अपनी यात्रा के क्रम से कश्मीर आया और बाद में यहीं निवास करने लगा। उससे वर्षादित्य का जन्म हुआ। वर्षादित्य से अरुणादित्य, उससे आनन्द और आनन्द से सोमानन्द उत्पन्न हुआ। आगे भौतिक रूप में पिता-पुत्र द्वारा गुरु-शिष्य क्रम नहीं रहा। अब यह परम्परा गुरु-शिष्य क्रम से ही चलने लगी, जो इस प्रकार रही—

सोमानन्द
↓
उत्पलदेव
↓
लक्ष्मणगुप्त
↓
अभिनवगुप्त
↓
क्षेमराज

संगमादित्य कश्मीर में उस समय आये थे जिस समय महाराजा ललितादित्य राज्य करते थे। ललितादित्य एक धर्मनिष्ठ कर्त्तव्य-परायण तथा योग्यशासक थे। वह अपने कल्याण के साथ साथ जनता के कल्याण का भी ध्यान रखते थे। प्रजा में धर्म-प्रेरणा के भाव जगाने में उसने श्लाघनीय योग-दान दिया। कश्मीर में शैव-शासन के प्रचार का कारण बनने का श्रेय इसी प्रजावत्सल तथा प्रसिद्ध महाराजा को प्राप्त हुआ।

भारतवर्ष में गंगा-जमुना के बीच में एक सुन्दर स्थान अन्तर्वेदी में अत्रिगुप्त नाम से एक शैवाचार्य रहा करते थे। वह एक सद्गृहस्थ थे और शैव-शासन के उत्तम अभ्यास में ही अपने जीवन को दिव्य तथा धन्य बनाने में व्यस्त थे। एक बार महाराजा ललितादित्य भ्रमण करते हुए इस उत्तम स्थान अन्तर्वेदी में गये। वहां उनका सम्पर्क शैव-आचार्य श्री अत्रिगुप्त के साथ हुआ। महाराजा उनके ज्ञान तथा प्रतिभा से प्रभावित हुए। उन्होंने आचार्य को कश्मीर आने की प्रार्थना की। इसे ऋषि ने स्वीकार किया।

अत्रिगुप्त कश्मीर आया। महाराजा ने उन्हें बडा आदर-सत्कार किया और यहां ही निवास करने की प्रार्थना की। उस समय महाराजा का राज्य-भवन श्रीनगर से कुछ पांच मील दूर दक्षिण-पूर्व में ल्यतपुर के स्थान पर था। वहां से आगे दो तीन मील (सम्भवतः पाम्पोर में) राजा प्रवरसेन का पुराना राज्य-भवन था। इसी राज्य-भवन को अत्रिगुप्त और उनके गृहस्थ के रहने के योग्य बनाने के लिए मरम्मत किया गया।

शैवाचार्य ने यहीं रहकर कश्मीर में शैव-शास्त्र का प्रचार किया और शेष जीवन यहीं बिताया। आगे लगभग चार पीडियों की इसी परम्परा में वराहगुप्त को एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ जिसका नाम नरसिंहगुप्त था। इनसे तन्त्रालोक के रचयिता स्वनामधन्य अभिनवगुप्तपाद का जन्म हुआ। इनके तर्क-गुरु श्री लक्ष्मणगुप्ताचार्य थे। श्री शम्भुनाथ, जो एक गृहस्थी थे, श्री अभिनवगुप्त के त्रिकमार्ग (अभेद शैवमत) के गुरु थे।

नरसिंहगुप्त की पूर्व-वंश-परम्परा में ही वसुगुप्त का जन्म हुआ था। यह वह समय था जब कश्मीर में बौद्धमत का प्रचार ज़ोर पकड रहा था। वसुगुप्त ने बौद्धमत का खण्डन करने के लिए अपना प्रयत्न सफल करना चाहा परन्तु वह असमर्थ रहा। शैव-शासन के अभिभव को सहन न करते हुए, वसुगुप्त ने कश्मीर में श्रीनगर से बारह मील दूर हार्वन के पास महादेव पर्वत के किसी भाग में तपस्या आरम्भ करके भगवान शिव की आराधना की। आशुतोष भगवान शिव ने उसे स्वप्न में आदेश दिया कि दाछीगाम की वनस्थली में एक बडी शिला है। इस पर शिव-सूत्र खुदे हुए हैं। इन सूत्रों का मनन करके कश्मीर में शैव-शासन का प्रचार करो। फलतः वसुगुप्त ने ऐसा ही किया। प्रातः जब वह डूण्ढते हुए इस विशाल शिला के पास आया तो इसके स्पर्श-मात्र से ही शिला उलट गई और शिवसूत्र इस पर खुदे हुए मिले। वसुगुप्त ने इन सूत्रों का भली-भांति विचार तथा मनन किया और देश में इन का प्रचार करने लगा। यह विशाल शिला अब भी दाछीगाम के वन में मौजूद है और इसे 'शंकर-पल' के नाम से जाना जाता है।

कश्मीर में त्रिक-शासन का प्रचार, इस तरह पर, वसुगुप्त के शिव-सूत्रों से हुआ। फिर इन्हीं शिवसूत्रों के आधार पर श्रीवसुगुप्त जी ने स्पन्द-सूत्रों की रचना की जिन सूत्रों पर उनके सच्छिष्य कलट्टाचार्य ने व्याख्या की।

[शेष द्वितीय अंक में]
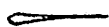
शैव दर्शन में
स्वातन्त्र्यसिद्धान्त की महत्ता

—मखन लाल कोकिलु

स्वातन्त्र्यसिद्धान्त कश्मीर शैव दर्शन के अन्य सिद्धान्तों में से सर्वप्रथम सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रभु ही एकमात्र सत्य तत्त्व हैं, बाकी जो कुछ है वह असत्य न होकर उसी प्रभु के स्वातन्त्र्य का विकास है। वह परमेश्वर शुद्ध प्रकाशरूप या शुद्ध अहंरूप है। तात्पर्य यह कि प्रभु केवल मात्र चेतना ही चेतना है, अचेतन, शरीर, बुद्धि, प्राण या शून्य का कुछ भी संमिश्रण उसमें नहीं है। प्रकाश की प्रकृति विमर्श होती है। अर्थात् जिसे अपना आभास होता है उसे साथ ही स्व-सत्ता तथा आभासमानता की भी प्रतीति होती है। कश्मीरी भाषा में हम यूं कह सकते हैं कि प्रकाश 'आसुन' (सत्ता) है तथा विमर्श 'भासुन' (भासमानता) है। या हम यह कह सकते हैं कि प्रकाश ज्ञान है और विमर्श जानने की क्रिया है। यह ज्ञानरूपता ही परम-शिव की शिवता है और क्रियात्मकता उसकी शक्ति रूपता है। वह स्वयं ही शिव भी है और शक्ति भी। यह शिवता उसकी विश्वोत्तीर्णता है और शक्तिता विश्वरूपता है।

लोक व्यवहार में जब पदार्थ का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है तो वहां पदार्थ का आभास होता है। पर वह आभास प्रकाश नहीं है क्योंकि दर्पण को पदार्थ प्रतीति के अभाव के कारण पदार्थ का विमर्श नहीं होता है। अर्थात् जब दर्पण को यह विमर्श नहीं कि 'मैं हूं' तब उसे 'यह है' इस प्रकार का विमर्श कैसे होगा। इसके विरुद्ध एक प्राणी को अपने प्रकाश और विमर्श के बल से विषय का प्रकाश और विमर्श भी होता है, अर्थात् विषय-आभास के साथ विषय-प्रतीति भी रहती है। अतः वह आभास प्रकाश रूप है पर परमेश्वर को अपनी अनन्त शुद्ध चेतनता के अस्तित्व का विमर्श और प्रकाश दोनों होते रहते हैं क्योंकि वह शुद्ध प्रकाश के साथ साथ शुद्ध विमर्शरूप है। वास्तव में विमर्श प्रकाश से भिन्न अन्य कोई चीज़ नहीं। वह प्रकाश का वह स्वभाव है जिससे प्रकाश की प्रकाशता है, तथा विमर्श की विमर्शता है। ये दोनों भाव,

वस्तुतः एक और अभिन्न हैं। इन में भेद का आभास होता नहीं। इसी परम तत्त्व को, जो शुद्ध प्रकाश तथा विमर्श के महान सामरस्य को धारण करने वाला है, शुद्ध संवित् तत्त्व कहा गया है। वही परमशिव है। अर्थात् प्रमाता, प्रमेय, चेतन और जड में जो कुछ भी आभासित होता है वह पूर्ण रूप से इसी शुद्ध संवित् में इस प्रकार एक रूप में समाये हुए हैं जैसे दूध में पनीर, दही, मलाई, घी आदि। यह दृश्यमान संसार भी इस संवित्-तत्त्व में व्यक्तिगत रूप में नहीं दीख पड़ता अपितु संवित् बनकर संवित् ही के रूप में सदैव रहता है। इस कारण संसार के भी उसी में रहने के कारण संसार सर्वथा मिथ्या नहीं। यह है और सत्य है। उस शुद्ध संवित् में यह संवित् ही है। यही संवित् रूपता इस संसार की वास्तविक सत्ता है।

शैवदर्शन में संसार को परमेश्वर ही व्यावहारिक रूप देकर इस की सत्ता प्रदान करता है। इसी लिए परिपूरक स्वभाव के कारण यह परमेश्वर परिपूर्ण है।

शैवदर्शन के अनुसार ज्ञान भी एक क्रिया है। ज्ञान क्रिया के बिना और क्रिया ज्ञान के बिना असंभव है इन में अन्योन्यभाव संबन्ध है। स्वातन्त्र्य के अभाव के कारण निर्जीव वस्तुओं की क्रिया वास्तविक क्रिया नहीं। स्वतन्त्रता को धारण करने वाला ही कर्ता कहा गया है। अतः शैवदर्शन का परमेश्वर ज्ञान स्वरूप भी है और क्रिया स्वरूप भी है। प्रकाश और विमर्श ही उसके क्रमशः ज्ञान और क्रिया हैं।

यह ज्ञानरूप होता हुआ क्रियात्मक भी है। यही उसकी वह शक्ति है जिस से वह प्राणिरूप में और संसाररूप में विभिन्न आकार प्रकारों में अभिव्यक्त होता है। अतः वे आकार प्रकार भी संविद्रूप होने से परमेश्वर ही होते हैं और इन्हें प्रकट करके प्रभु अपने को ही प्रकट करता है। यदि यह शक्तिरूपता उसमें न होती तो वह जड होता और स्वातन्त्र्य का चमत्कर्ता न होता। स्वातन्त्र्य के द्वारा ही वह अपने निर्मल प्रकाश में अपनी इच्छा से इस सारे विश्व को, जीवभाव को, अविद्या को, माया को और सारे प्रपच को एक प्रतिबिम्ब की तरह प्रकट करता है। देश, काल या आकार द्वारा सीमित न होने के कारण प्रभु का यह स्वभाव ही है कि वह

अपनी इच्छा से जीवभाव को प्रकट करके अपने शिवभाव को भूल डालता है। अर्थात् स्वातन्त्र्य की लीला में आकर वह अद्वैतभाव को गुप्त रखके द्वैतभाव को भासित करता है। अपने स्वभावभूत स्वातन्त्र्य के उल्लास के कारण ही वह एक प्राणी को दूसरे से अलग और संसार को जीवों से अलग और शिव से अलग समझता है। तात्पर्य यह कि प्रभु चिदानन्द सागर है। यह आनन्द रूपता जो एक प्रकार की हल-चल जैसी विशेषता है उसके स्वातन्त्र्य का विलास है। शैवदर्शन में इसे स्पन्द भी नाम दिया है। इस स्पन्दनात्मक आनन्द के कारण ही उसे अपने स्वभाव को प्रकट करने की इच्छा रहती है जो अनिरुद्ध-प्रसर-रूप होती है। इसी से शिव जीवरूप में और शिवरूप में प्रकट होता है और इसी से वह जगत को उत्पन्न तथा नष्ट करता है। इसी से वह अपने भूले स्वभाव को अपने सन्मुख लाकर पहचान के कृतार्थ होता है। यही उसकी महेश्वरता है। सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह इसी माहेश्वरी लीला के पांच अंग हैं। इन पांचों कृत्यों को निभाने के लिए परमेश्वर पांच पांच रूपों में प्रकट होते हैं। ये ही पांच कारण कहे जाते हैं। इनके ही नाम ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ईश्वर और सदाशिव क्रमशः वर्णित किये गये हैं। हर एक ब्रह्माण्ड में इन का कार्य होता रहता है। इन पांच कारणों में भी ब्रह्मा से महान विष्णु, उनसे महान् रुद्र, रुद्र से ईश्वर और ईश्वर से महान सदाशिव है पर यह सारे ईश्वर माने जाते हैं। इन सब से अनन्त सामर्थ्य वाले, असंख्य ब्रह्माण्डों के सृष्टि-संहार कर्ता परमेश्वर को ही पर शिव के नाम से पुकारा जाता है। उससे भिन्न और कोई वस्तु नही है। वह स्वयं ही सब कुछ है। उसी की महिमा से यह कल्पित सत्ता परिस्पन्दित हुई है, उसी के सहारे पर आश्रित है तथा समग्र व्यवहार भी उसी के सहारे चल रहा है। परमशिव के इस स्वभाव के प्रकट होने को ही किसी स्थान पर परिणामवाद, क़हीं आरम्भवाद, कहीं शून्यवाद और कहीं विज्ञानवाद के नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में देखने पर यही ज्ञात होता है कि परमशिव का संपूर्ण व अमित स्वातन्त्र्य ही इन सारे वादों के प्रकट होने का मूल-हेतु है। यह स्वातन्त्र्य परमेश्वर का प्राकृतिक स्वभाव है। इसी सिद्धान्त को योगियों ने महान सिद्धान्त कहा है और इसी स्वातन्त्र्यसिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन शैव दर्शन में हुआ है॥

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिता अनुत्तराष्टिका

सङ्क्रामोऽत्र न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा न च
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाभ्यासप्रयासो न च।
तत् किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रूयतां
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितः॥ १॥

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित् त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो यथावस्थितः॥ २॥

पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथानुत्तरे
सङ्क्रामः किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेशक्रमः।
मायेयं न चिदद्वयात् परतया भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथाः॥ ३॥

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवद्
दीपार्केन्दुकृतप्रभाप्रकरवन्नैव प्रकाशोदयः।
हर्षं संभृतभेदमुक्तिसुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः॥ ४॥

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहङ्कारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत् तदेकात्मता-
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः॥ ५॥

पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदास्मिन् भवे
मध्याकारविकारसङ्करवतां तेषां कुतः सत्यता।
निःसत्ये चपले प्रपञ्चनिचये स्वप्नभ्रमे पेशले
शङ्कातङ्ककलङ्कयुक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव॥ ६॥

भावानां न समुद्भवोऽस्ति सहजस्त्वद्भाविता भान्त्यमी
निःसत्या अपि सत्यतामनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम् ।
त्वत्सङ्कल्पज एष विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात् त्वं विभवेन भासि भुवनेष्वेकोऽप्यनेकात्मकः ।। ७ ।।
यत् सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यद्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते ।
तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज ।। ८ ।।

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिता
अनुत्तराष्टिका समाप्ता ।

विनयश्लोकाः

—श्रीकण्ठ कौल

दृग्धामात्मनि पारदृश्वनि पदे सञ्जातकौतूहलो
दिल्लयां देहि वसन्तदूतनिनदं, सौगन्धिकं पाटलम् ।
मध्येसूर्यसुताज्जलं, जनदृशं, शौरेः पदास्पर्शनं
गात्राधिष्ठितदेवसेवनविधौ श्रीकण्ठकायापि त्वम् ।।

आप का कौतूहल संवित् के पद में है जहां आर-पार देखा जाता है। शरीर में ठहरी इन्द्रियों की अधिष्ठात्री करणेश्वरियों द्वारा चिद्भैरव (शिव-श्रीकण्ठ) को पूजोपकरण के रूप में, दिल्ली में बैठे बैठे हो कोयल की कूक, सुगन्धित गुलाब, यमुना के स्रोतोमध्य का जल, भगत जनों का दर्शन और श्रीकृष्ण के पादों का स्पर्श अर्पण करें। इस श्रीकण्ठ को भी प्रसाद मिले।

पुष्प्यत्काननसौरभेऽत्र समये वासन्तिके प्रोद्गते
कालाभ्रो दिवि बम्भ्रमीति कलुषं स्वान्ते यथा पाशवे ।
आगच्छेर्जमवाटतस्तदुभयध्वंसाय ज्ञानांशुमान्
भावान्दोलितमानसे मम तथा कश्मीरद्रोणीपदे ।।

यहां कश्मीर में खिलती हुई फुलवाडियों की महक से भरी वसन्त ऋतु आगयी है, पर पशु के मन में पाप की तरह काले बादल आकाश में चारों ओर मण्डला रहे हैं। आप ज्ञान-सूर्य बन कर इन दोनों को मिटाने के लिए जमवाट (जम्मू-प्रदेश) से उमडते हुए प्रेम से भरे मेरे मन तथा कश्मीर की वादी में पधारें। [आगे पृष्ठ २६ पर]

The Eternal Throb!

—Dina Nath Muju

ONCE a boy while wandering over fields, entered a water-mill. He was imaginative and curious by nature. On seeing the mill-stone go round and round incessantly, his inquisitive mind began to inquire and he approached the miller, who was sitting nearby, and asked him how the stone moved? The miller explained to him how the movement of the water pushed a wheel below, which made the stone move. He asked the boy to listen to the flow of the water. The boy did so for a while and then went out to see for himself how the water flowed, and how it set the wheel in motion When he came back he exclaimed that he understood how water made the wheel move. The miller heard his words and after a pause remarked calmly: "No, my boy it is the flow of the water that makes the wheel move." The boy could not at once understand the difference that the miller's words made. After a while he said, "Surely, if there were no flow the wheel would not move." The miller explained to him how it was the flow of the water which made the wheel move and how the same flow kept it in constant movement If the flow ceased the movement of the wheel would also stop.

The boy felt amused As there was silence all around he sat listening to the flow of the water and

mused. He felt, as if, he too flowed with water. His curiosity was further awakened He asked the miller how it was that though the flow of water was constant yet its sound seemed to vary. The miller was delighted to see the boy feel interested and spoke thus, "My boy, I have been listening to this water all my life. I came here as a boy, when I was, perhaps, smaller than you, with my father and have by now spent more than sixty years listening to it. I think this flow of water has a great message for those who care to listen to it, patiently and carefully, but alas! few do so. You are correct. The sound rises and falls. Listen more carefully and you will learn more from it. Yes, though water flows constantly yet it is not one continued sound that it makes. It is broken up at regular intervals. Perhaps the flow of water is not a continuity as such, but every drop as it moves, undergoes a change at every move, as it rises and goes down. The movement of water is itself the result of this change. Should there be no change there would be no flow. As you listen to the flow you can hear the ebb and rise of the sound. Can you catch it ?"

The boy sat listening silently for a few minutes and then said that he felt like catching it. The miller finding good company in the boy, who listened to him patiently and intelligently said to him. Look my boy, I seldom talk of it, for few care for such things. Many come here but usually their minds are filled with their own business and as soon as they feel the satisfaction of having achieved their purpose they hurry away. Few

have time or inclination to hear the song of this flow and learn from it. Since you feel interested in it, I shall try to explain to you as best as I can what I have myself understood of this flow, but I must tell you that no words can really convey what I mean. Try to go beyond words and feel with me.

"If you listen to it with care and affection, as you listen to a dear friend, whom you may have met after a long time, you will feel that there are moments when flow appears to stop, because you will feel the sound stop. It is generally for a very short while, so short that you cannot catch it easily. Do listen to it like this and you will observe that these stops are almost regular. By listening for years to this flow I have understood how it is from these stops that the sound arises. Can you leave your thoughts aside and just listen ? While listening thus to the flow of water do not try to close your mind to other sounds—the sound of the bird on the window sill, the buzzing of that aeroplane overhead, the sound of the bullockcart moving on the village road. Listening thus you will hear more than I can tell you, you will see more than I can show you, and you will understand more than I can explain to you. Will you try it for the fun of it ?"

The boy smiled silently and felt as if enchanted. The whole atmosphere seemed transformed to him. He sat listening thus for a while and felt as if he had suddenly come of age, and yet his heart was as young as ever. He felt silence speak to him.

The miller perceiving joy on the boy's face spoke, "You appear to have understood. Now I will tell you something more. Attend to it and perhaps it may open something more to you".

"The flow of the water is like the flow of life. Life itself is a throb, a flow, a '*spanda*'. This life which is in you and in every living creature also moves thus Not only does your breath come in and go out like this, but the whole of life moves, as if, by jumps and stops. As you listen to-day to the flow of water, if you similarly listen within yourself also, you will find that life itself is a throb, a vibration. Every throb appears to release a new life out of silence into which it appears to return. The silence is there after and before every throb. Watch it. To understand these throbs you must watch where one ends and the other begins. Though these throbs follow each other regularly there is always a small pause between the two, which grows gradually deeper as you continue to learn to attend to it. You will very soon understand the charm of these pauses. The flow of the water has taught me to understand the flow of life, but to really know it and feel its joy you must really love the flow of life; you will have to leave your own play and instead let it play. Try to observe this movement choicelessly, otherwise it cannot mean anything to you. If you learn to tune your song with its current, you will see that very soon your whole life is filled with it and whatever you think, feel or do you will not miss its music. You see I am often busy at the mill adding corn to the hopper

and removing the flour and so on, but the song of the movement that water has taught me is always in my heart. I move with this movement, sometimes I feel, as if, there is only the movement.

Now just look at the open space and the world around you. The whole creation is the result of a throb, a movement. This eternal movement continues to sustain the universe, as the individual throb continues to sustain the individual. When an individual attends to his individual throb, he feels that his senses along with their perceptions and their memories are supreme and is lead by them to seek what they want Now his memory and the meaning he gives to his perceptions is generally what he has learnt and stored for ages in his mind and heart. He is bound to them like an animal to the tether, but when a man picks up courage to tune his throb to the Universal Throb he knows that he is free and is in possession of powers previously undreamt of. But for this you must be able to muster courage to give up your self-created centre and move with the Universal centre. Watch the sea sometimes and see how the water is always in motion. The waves constantly dash against the shore. As they ebb and flow you feel that the sea is alive. Suppose the movement was not there, how would you think of it. It would be a dead mass of water. It is this ebb and flow that makes it, not only alive, but magnificient, grand and dreadful too. Watch the open skies and learn the same lesson from the silent movement of heavenly bodies too

The boy understood a lot, and smiled, as if, to thank the miller. The old miller too smiled at him with joy beaming in his eyes and peace on his face. Both sat there till late in the night. Though they did not talk a word now, yet there was communion between them and the whole nature around. Night came on but the time seemed to have lost its significance to them. Though they were alive to the world yet they were not of it.

The ocean had entered the drop.

(पृष्ठ २० से आगे)

श्रीमल्लक्ष्मण तावकप्रविकसत्तेजःसमुद्दीपितं
मद्धृद्धाम भवेत् कदान्ध्यरहितं वृत्तेः सुसंस्कारतः ।
मिथ्याचारपदं प्रवञ्चनपरं संसर्गदोषोद्भवं
जह्यां नूनं स्वबोधशोधनपरः त्वत्पात्रतायाचकः ।।

हे श्रीमान लक्ष्मण जी ! आप के खूब चमकते हुए तेज से जाग उठे मेरे हृदय से शाक्तविकल्प के संस्कार द्वारा (विकल्पात्मक) अज्ञान कब भाग खडा हो। कुसङ्ग के दोष से पैदा हुई मिथ्याचार की स्थिति तो सरासर धोखा-बाज़ी है। अपने विचार के परिष्कार द्वारा तो मैं इस स्थिति को अवश्य उखाड डालूंगा, आप का पात्र बनने की साध जो ठहरी।

Sundays in the Ashram

Prof. **T. N. Bhan**

Many hundreds of years ago a learned and holy man walked through the dense and picturesque Harwan forest all alone. He was in quest of something which he had not found in books, though he had read many, and which his mind had failed to work out for him, though it was remarkably fertile and sensitive. Having realized that knowledge, however profound, could not answer the sort of questions which disturbed him, he prayed to Him who is the Question of Questions and, equally, truly the Answer to all questions and his prayer was heard ; a divine vision directed him to undertake the present journey through the lovely forest lying in the lap of the sacred Mahadev mountain. He walked with firm steps finding an auspiciousness in the song of the multicoloured birds and in the beautiful shades that were gathering about the surrounding snow-peaks. After walking for quite sometime he halted before a boulder ; a voice coming from the depths of his being, told him that he had come to the end of his purposeful journey. He looked at the boulder expectantly and found it covered all over with an inscription in *Sharda* characters. He read it carefully and then bowed to God for the grace He had shown him !

This man was the great Shaiva Acharya Vasugupta and the inscription was the famous *Shiva Sutras*, the basic and all embracing principles of Kashmir Shaivism.

The revelation of the Sutras lightened up some of the hitherto ambiguous twists and turns of the path for the seekers of Reality The philosophers could, henceforth, understand and express convincingly the truths gleaned from deep spiritual experiences. The Sutras inspired many valuable commentaries and even some great original works and Shaivism gained a new dimension. The works of such master-minds as Somananda, Utpala, Jairatha, Abhinavagupta came to be read and discussed in Shaiva Schools from generation to generation, till the history of the land took a new and different turn round about the beginning of the fourteenth century. Henceforth it began to show unmistakable signs of loss of energy and vitality, but, even then, from period to period, some stars, dwelling apart fed the sacred flame with their precious life-blood.

To-day the radiance of this flame is seen in a small but beautiful Ashram, situated at the foot of a mountain, not many miles distant from the historic Harwan forest, and only a few furlongs from the famous Mughal garden–Nishat. While Nature has bestowed picturesqueness on the Ashram, its peace and harmony really radiate from its maintainer, Rajanaka Lakshmana (Swami Ishwar Swarup Ji) popularly called Lakshman Joo. He follows the Masters Scholars and students, coming from all corners of the country and from foreign lands too, find in his exposition of Shaivism the tone and depth of

Abhinavagupta, and the sweetness and light of Utpala; and, for hundreds of devotees of different faiths he is a living image of God, this philosopher and sixty-three year old Yogi and Brahmachari. He shines like a steady flame of love and peace; he brings rest to the most restless of things, the human mind. It is only when you meet him that you *feel* him, and when you *feel* him, you begin to love him and this love becomes purer and more and yet more irresistable as days pass, and a time comes when you realise that in him you have discovered your best friend and sympathiser; a time comes, sooner than you would expect, when you discover an alluring sweetness of a childlike innocence behind the gravity of his philosophic exterior. Like a supremely beautiful thing, a sun-set lingering on a snow-peak, a full blown lotus bewitched by its image on the bluish waters of a calm lake, a note of music struck by a master-musician in his most-inspired moment, the Swami sinks into your mind, sure to reappear to bring you peace and hope in the darkest moment of your life like as a rainbow emerging on a stormy sky. His silence speaks; it speaks of the reality of the Spirit; it speaks of the gateway to God, of the path that leads to real liberation.

The Ashram is open to public on Sundays and on no other days. On this day the saint holds a nearly four-hour class which starts with the recitation of the *Gurustuti*, a song of thanks and praise raised to the saint by Acharya Rameshwar Jha of Bihar, a disciple of Swami Ji For a couple of years now the Swami has been giving discourses on *Tantraloka* and *Shiva Sutras*. Sometimes

he explains a *shloka* from *Panchastavi*, or *Bhagwadgita*, just for relaxation as he puts it.

My association with the Ashram spreads over about two decades. Though I am sure that I am as blank as ever, none the less I have had an opportunity of doing some serious thinking on some of the questions which disturb us at times. I would like to share my reflections with the reader—and I hope my ramblings on Shaivism —or call it my fiddling with it—will not be found entirely useless.

To every human being at some stage or other life needs must appear as a big question mark. There are moments when we feel ourselves as spectators of a drama in which we have been acting different parts against different settings before different audiences. The individual has been the actor as well as the sole spectator of his acting; one is still acting and witnessing ones action. One does not then know what to think of oneself and of the life one has lived and is still living The limitedness (or should we say the undependability) of objective experience becomes apparent. One begins to have a glimpse of the permanent as against the changefulness that one has seen and is passing through but alas it is so difficult to catch it well! It is true that such moments of intense thinking and feeling are generally excited by pressure of adversity, but the fact remains that they are part and parcel of the fund or sum-total of human experience. In some measure and for some short while we do look upon life with the eyes of a rising Budha. One is bound to feel not only ruffled and uneasy but even unfulfilled if such questioning becomes obstinate.

I do not know if agreement will be found with the views expressed above but a time came to me when life appeared meaningless and even insufferable. On a summer Sunday afternocn, nearly two decades ago, I went to the Ashram(I cannot say how and why) accompanied by a few students. I would not say that I was at once impressed or attracted by the things I saw. but surely every Sunday that followed found me at the feet of the Master. Everyday as the Sunday sun set, showring myriad hues over the Dal, I left the Ashrama with a longing to return as soon as possible. Could seven days shrink into a day, into an hour only ?—I always thought so every time. Swami Ji never talked spiritualism to me, never frightened me with Shastras, never objected to my talking about mundane matters but slowly, imperceptibly, he overwhelmed me with his love and sympathy and innocence, with his godliness. I placed my withered and shrunken mind at his feet, without my knowing it, and it showered signs of coming to bloom and acquiring an unthought of freshness. I talked to him through the language of silence.

Life for me had acquired a new centre of hope.

Personal experience apart, I would say that the Sundays discourses can be appreciated eminently by that type of mind which we class as modern, that is the mind which is fed on ever-growing and amazing knowledge of science, technology and humanities In a very real sense modern man is translating Ulysse's dream of following knowledge like a sinking star. Psychology is

exploring the deepest levels of mind, intellect is unlocking most precious treasures of thought, and science is taking a long leap forward, beyond space towards the revolving planets. Human mind is showing an amazing expansion, a keen sense of awareness towards the created Universe. If I say that the Sunday discourses not only do not contradict but positively affirm this spirit of modernism, the spirit of enquiry and expansion. I may possibly be taken for a man who does not know what he says. The ashrams and Spirituality seem to be associated with antiqueness and middle-ageism and religion is regarded as contradictory to science but the facts are otherwise If we form an opinion about things without understanding them we became guilty of what may be an as unscientific approach to life, an approach which cannot be tolerated by the temper of today I am sure of the soundness of the views and have ventured to state these because the masters of Shaiva Philosophy, one and all, tell us that life is purposeful only if it is devoted to the investigation and enquiry of truth Truth dawns with the development of awareness. Once an individual feels absolutely free. he is a universal being; he is Shiva—he is all Beauty. all Knowledge all Truth ; he is Ishwara Be it Shiva-Sutras; Pratyabhigna. Tantraloka or Shiva Drishti, you can understand some general principles of Shaivism (golden principles) even if you are a silent listener like me because the master explains things with a clarity which does not come from scholarship but from real experience. His exposition of the masters is a bumper harvest of rich spiritual experience. The sheaves that I have gleaned from

it form a meagre stock (so meagre that I am ashamed to speak of it) but I regard it as a rich possession.

1. Reality is one and supreme and universal. Call it Supreme Cause or supreme consciousness. Call it by any name. It pulsates the universe. Everything emanates from it and everything dissolves in it. It is the life, the motive power of all that has been, all that is, and all that will be there. It is the motive power of the individual mind too.

Here an idea crosses my mind which might appear queer but I would like to express it. The ideas that have moved the world, the great ideas of great men of science, the idea of authors and all the ideas of discoverers are ascribed to individual minds by common agreement. We speak of Newton's theories and Pasteur's discoveries and Tagore's ideas but could we not as well say that they have generated from One mind because the highest common factor among all these greatmen is Mind and could we not call it the Universal Mind, or could we not put it like this: that Universal mind has flowered into individual minds in the past and that this process continues. To me the Shaiva view of Reality becomes explainable in this way.

2. All life, animate and inanimate, emanates from this Supreme Cause. As the cause is real, the entire objective experience is real. The world of objective experience is not to be dismissal as an illusion.

The theory of Maya finds an important place in Indian spiritual thought. Its value as a theory is substantial but it cannot perhaps become acceptable if it is

interpreted on incorrect lines. The foreigners have especially found it difficult of appreciation. The view of the Shaiva masters that the world is real should clear the mists and throw new light on the spiritual view of life. Whatever material advancement we witness today has emanated from the Universal mind — when we think like this can we then find any conflict between science and spirituality ?

3 Mind is a very powerful entity but it is not absolutely dependable because delusions and limitations also arise from it (what mind declares infallible today, it regards as fallible to-morrow. The history of scientific invention is a proof in point). It has different aspects of functioning—it can be ego, feeling, intellect consciousness. The same mind can lead to awareness provided that it is not suppressed but made into a friend, provided that its great energy is directed God-wise. This can be done by observing its functioning effortlessly. By this process one can enter into the sphere which is beyond it and which is the realm of the spirit and which can be viewed with the eyes of experience (call it realm or sphere on anything but mental labels will not do simply). Knowledge, logic and disputation are of the mind and not beyond mind. These may lead to the gateway of the spirit but these cannot open it. Only God's grace will open this gate!

4 Once mind is zeroed, one experiences peace—there is no ruffle in the still waters of a lake. To the Buddhist philosopher this achievement is supreme, this Shunya (शून्य) this voidness, this beyond-mindedness but

the Shaiva philosopher would cross over from this stillness to realization, from this beyond-mindness to supreme consciousness, to the life which sustains even this viodness, this beyond-mindness.

Buddhism, in its long march from Central India to Asia was lured by the divine symphony of Kashmir Shaivism and it let itself be enriched by the fruits of knowledge and experience which the masters had reaped for the benefit of mankind. It assimilated some of the principles and agreed to introduce the Shaiva view into its philosophy. The story is fascinating—it would need more space than can be available here

5. Reality is universal pulsation—Samvit Spanda (संवित् स्पन्द). It is an eternal Movement. It flows perenially. The source includes the flow and the movement of Universal energy

A thorough discussion of mind, matter and energy would lead to the acceptation of this view. This discussion would be ever so fruitful and interesting in view of the amazing store of facts available to modern thinkers.

What has been stated above should suffice to show that Kashmir Shaivism is Universal. It provides the steps of logic and reason by means of which one can move upwards, higher and higher and higher and still higher till one is elevated into a Vastness which is all absorbing, all peaceful, all meaningful and all beautiful.

To Gurudev

I have a heart, could I lay it at Thy Altar !
I have a mind; could I place it at thy feet .
I have intelligence; could I seek thee with it.
I have ego could it merge in you.
O Blessed one ! All-pervading and All-embracing !
Break my bonds, and 'I Am You'
In the clear vision of Reality—
This is my humble prostration

Delusion hinders and sets asunder
The whole—Source and Force
In numerable births and deaths.
Would this wandering and wailing,
This fretting and fuming,
Cease altogether and calm prevail
Through Thy grace, unhindered—
This is my real prostration.

—*Jankinath Kaul*